साठोत्तरी उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश : बदलते मूल्यों के संदर्भ में

रमेश एच. चौधरी

Received: November 18, 2018 Accepted: December 23, 2018

मुंशी प्रेमचन्दजी ने उपन्यास को मानव-जीवन का चित्र माना है। तात्पर्य यह है कि उपन्यास ही एक ऐसी विस्तृत फलकवाली विधा है, जिसमें मानव-जीवन के प्रायः सभी पहलुओं को समेटने की दृष्टि रहती है। हिन्दी साहित्य की वर्तमान विधाओं में उपन्यास सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सशक्त विधा के रूप में स्वीकृति पा चुका है, कारण यह है कि आधुनिक जीवन की विसंगतियों व विद्रूपताओं का जितना तलस्पर्शी,, प्रभावी एवं विविधतापूर्ण अंकन उपन्यासों में हो रहा है, वह विस्मयकारी होते हुए भी सुखद और जनता की सुरुचि का परिचायक है।

यह तो सर्वविदित है कि हिन्दी गद्य-साहित्य में उपन्यास विधा का आविर्भाव और आरम्भ जासूसी,, रोमानी,, तिलस्मी,, रहस्यवादी उपन्यासों से हुआ, जिनमें आश्चर्यपूर्ण घटनाओं की भरमार थी। प्रेमचन्द पूर्व के उपन्यासों की इन अतिशयोक्तिपूर्ण प्रवृत्तियों से क्षुब्ध होकर कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने देश के साहित्यकारों को लक्ष्य कर कहा – “जिस देश की सत्तर प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती है; जिनकी अपनी भी समस्याएँ हैं, करुणान्तिकाएँ हैं। क्या किसी भी साहित्यकार का ध्यान आकृष्ठ नहीं करेंगी? रबीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा दिया गया यह उपालम्भ केवल उपालम्भ ही नहीं था;;हिन्दी उपन्यास साहित्य को नई दिशा देने वाला सिद्ध हुआ। सर्वप्रथम मुंशी प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास साहित्य में ग्रामीण परिवेश में श्वसित किसान, मजूदर इत्यादि जनसाधारण को स्थान दिया तथा उनकी समस्याओं की और हर एक भारतीय का ध्यान आकृष्ट किया। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द को इस परम्परा के प्रवर्तक कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी |

सन् 1960 के बाद का समय विशेषकर भारतीय राजनीति में मोहभंग का समय रहा है| इस समय की राजनीति उथल-पुथलयुक्त घटनाओं में - सन् 1962 का चीन आक्रमण, 1964 ई॰ में पं॰ नेहरूजी का निधन, प्रधानमंत्री के रूप में लाल बहादुर शास्त्री, सन् 1965 में पाकिस्तान युद्ध विजय, ताशकंद वार्ता में शास्त्रीजी का शंकास्पद निधन, श्रीमती इन्दिरा गाँधी प्रथम महिला प्रधानमंत्री, सन् 1971 का चुनाव, श्रीमती गाँधी के द्वारा विजय, सन् 1971 में पुनः पाकिस्तान के साथ युद्ध और बांग्लादेश का स्वतन्त्र अस्तित्व, सन् 1975 में इमरजेन्सी की घोषणा- इन सभी घटनाओं ने इस काल के साहित्य पर विशेष प्रभाव डाला। इन घटनाओं के प्रतिघात स्वरूप नगरीय व ग्राम्य समुदाय बेरहमी से इन समस्याओं की जकड़ में आ गए। "टूटते गाँव, टूटते परिवार, बड़े होते जाते महानगर तथा उनकी रिक्त जिन्दगियाँ, औद्योगीकरण और मशीनीकरण आदि ने एक अज़ीब शून्यावकाश पैदा कर दिया|”[1] टूटते ग्रामीण परिवेशों के प्रमुख कारण में उपर्युक्त परिस्थिति विशेष जिम्मेदार मानी जा सकती है।

साठोत्तरी उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश व बदलते मूल्य

भारतीय समाज-व्यवस्था में ग्राम अपना एक विशेष महत्व रखता है। यदि यह कहें कि हमारी समाज-व्यवस्था का हृदय ग्रामांचल ही है, तो यह अतिशयोक्ति न होगी। किन्तु वर्तमान सन्दर्भो में व समय में गाँव की और दृष्टि रखी जाय तो खयाल आयेगा कि आज गाँवों की स्थिति बड़ी ही शोचनीय है। गाँवों में बेरोजगारी, गरीबी जैसी समस्याएँ डेरा डाले बैठी हैं। वर्तमान सरकारें इ-ग्राम की संकल्पनाओं की बाते कर रही हैं। एक गाँव दूसरे गाँव से माहिती के स्तर पर तो जुड़ रहा हैं, किन्तु भावना के स्तर पर उतना ही दूर जा रहा है। तकनीकी विकास के कारण होनेवाले लाभों की अपेक्षा देहातों में गैर लाभ अधिक हो रहे हैं। गाँव के लोगों में एक तरह से मशीनीकरण के कारण भाव-शून्यता घर कर गई है। परिणाम यह हुआ कि गाँव शनैः-शनैः टूट रहे हैं और ग्रामीण अब महानगरों की चकाचौंद में गुमराह हो रहे हैं। उनके मूल्य अपनी पहचान खो रहे है। परिस्थिति यह है कि- "महानगरों पर पश्चिम का, नगरों पर महानगरों का, गाँवो पर नगरों का दबाव बढ़ रहा है। …….. गाँव तथा उनके लोग भी

अपने सहज उन्मुक्त प्राकृतिक जीवन से दूर हटते जा रहे हैं।"[2] इस मूल्य परिवर्तन के पीछे नगरीय परिवेश का प्रभाव ही जिम्मेदार है।

अब हम प्रतिनिधि साठोत्तरी उपन्यासों में, ग्रामीण परिवेश एवं बदलते मूल्यों सम्बन्धित पहलुओं पर विचार करेंगे।

स्वातन्त्र्य प्राप्ति के लिए अपने प्राणों की बलि देने वाले व अपने सम्पूर्ण जीवन को नये स्वतन्त्र भारत के सुनहरे सपने के पीछे कुर्बान कर देनेवाले सेनानियों की आँखों में चमकनेवाले उस काल्पनिक भारत का स्वातन्त्र्य प्राप्ति के बाद ठीक-ठीक मोहभंग हुआ। गाँवों के उत्कर्ष के लिए जो कुछ भी सोचा गया था, आजादी के बाद ग्राम्य-जीवन के उत्कर्ष की अपेक्षा उसका पतन नगर के विषाक्त कीटाणुओं द्वारा होने लगा। इस संदर्भ में श्री रामदरश मिश्र का 'जल टूटता हुआ' उपन्यास महत्वपूर्ण है। जिसमें उपन्यास का नायक सतीश बदलते हुए ग्रामीण मूल्यों से और बिखरते हुए ग्रामीण जीवन से क्षुब्ध होकर कहता है - "गाँव टूट रहा है, मूल्य टूट रहे हैं, सत्य टूट रहा है, कोई किसी का नहीं, सभी अकेले हैं। एक-दूसरे के तमाशाई, इस जमाने में दो ही शक्तियाँ विकासमान हैं- पैसा और गुंडई।"[3] इसके अतिरिक्त ग्राम्य-जीवन के परिवेश का वास्तविक चित्रण 'पानी के प्राचीर' नामक उपन्यास में ठीक-ठीक हुआ है - "गाँव में क्या रखा है निरु। देखो न सखियों के नाम पर गेंदा, चमेली जैसी आवारा छोकरियाँ हैं। गाँव के लौंडे हैं, जो बिंदिया चमारिन के पीछे पड़े रहते हैं और गाँव की लड़कियों पर बुरी निगाह गड़ाये फिरते हैं। गाँव के लोग चोरी करते हैं, खेत उखाड़ते हैं, घर फूंकते हैं, चुगली करते हैं, ऐसे गाँव में क्या रखा है? और तो और दिल बहलाने के लिए कोई तरीका नहीं। किसी से बात करो तो वह दूसरों से शिकायत करता है। औरतें हैं तो उन्हें एक-दूसरे के घर की पोल खोलने में ही मज़ा आता है।"[4] इस प्रकार गाँव में मूल्यों का ह्रास हो रहा है, छोटी-छोटी बातों में राजकारण के गंदे षड्यंत्रों की जमावट होने लगी है। ऐसे माहौल में शहरी मूल्य ग्रामीण परिवेश पर हावी न हों तो ही आश्चर्य है।

वर्तमान समय में ग्राम्य जीवन में रहने वाले लोग शहरी जीवन की और विशेष रूप से आकृष्ट हो रहे हैं। गाँव धीरे-धीरे पत्तों के महल की भाँति बिखर रहे हैं। गाँव के लोग नगर-जीवन की प्रणाली को देखकर सम्मोहित हो रहे हैं और परिणाम यह होता है 'अन्धानुकरण'। इस सन्दर्भ में डॉ॰ राही मासूम रज़ा का 'दिल एक सादा कागज' उपन्यास में शहरी मूल्यों के दबाव का चित्र बड़ा ही व्यंजक है। "माला का तंग कपड़ों में साइकिल लेकर निकल पड़ना इसी का धोतक है। साहित्य और कला फैशन की वस्तु बन जाती है। किसी प्रबुद्ध व्यक्ति के मुँह से किसी किताब का नाम निकल जाय तो दूसरे दिन वह किताब अनेक लोगों की लायब्रेरी में पहुँच जाती है। 'बीफ' को इसलिए खाया जाता है कि लोग उन्हें दकियानूसी न समझें।"[5] आधुनिकता की इस होड़ में, दकियानूसी न दिखने की होड़ में गाँव का जन व्यर्थ ही प्रयत्न कर रहा है। नगरीय जीवन प्रणाली को अपनाने की लालसा में वह अपने प्राकृतिक जीवन को कहीं दूर छोड़ देता है। 'नदी फिर बह चली' (1961) का जगलाल अपनी पत्नी के लिए सौन्दर्य प्रसाधनों में क्रीम और पाउडर खास लाता है। मूल्यों का ह्रास तो तभी होता है, जब "सिनेमा थियेटर में वह परबतिया से इसलिए कुढ़ता है कि वह अपनी छाती पर अंचल को संभाले रखती है, जबकि फर्स्ट क्लास और सेकण्ड क्लास में बैठी शहरी युवतियों की छाती पर आँचल या दुपट्टा नहीं था, वे मर्दों के साथ बिलकुल लापरवाही से बैठी थीं।"[6]

गाँवों में होने वाले मेले व त्यौहार भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं। त्यौहार उत्सव व मेलों के आयोजन से मानव-मन तनाव मुक्त होता है। लेकिन शहरी मूल्यों के दबाव में गाँवों के मेले जैसे मृतप्रायः हो गये हैं। आज का युवा सिनेमा-थियेटरों में व्यर्थ ही खर्च कर देता है, किन्तु मेले में जाने से कतराता है। मेले में कुछ लोग जाते भी हैं तो नीची हरकत करने व खून-खराबे के लिए। 'नदी फिर बह चली' मे बडी ही व्यंजकता से यह चित्र साकार हुआ है, "औरतें अलग-अलग बचकर चलने की कोशिश करतीं, मगर किसी न किसी का हाथ इधर-उधर पड़ ही जाता था। पहचानना मुश्किल था कि वह हाथ की सफाई किसने दिखलाई और औरतें मन ही मन गाली बकती आगे बढ़ जातीं।"[7] नगरीय मूल्यों के आक्रमण से ग्रामीण परिवेश में होनेवाले ये सांस्कृतिक पर्व नष्टप्रायः हो रहे हैं।

उपन्यासकार का दायित्व केवल लोक-उत्सव, रीति-रिवाजों व परम्पराओं का ह्रास दिखाना ही नहीं, वरन् उन प्रणालियों को उजागर करना भी है। इस सन्दर्भ में गुलशेर खान शानी का 'कालाजल' (1974) उपन्यास बड़ा ही महत्वपूर्ण है। डॉ॰ पारुकान्त देसाई इस सम्बन्ध में लिखते हैं - "समूचा मुस्लिम समाज अपनी अच्छाइयों-बुराइयों, रस्मो-रिवाज, मान्यताओं, गरीबी, विडम्बना, विसंगतियों, विद्रूपताओं के साथ यहाँ मूर्तिमन्त हुआ है। इसी एक उपन्यास में हम मुस्लिम समाज को समग्रतया जान सकते हैं। ग्रामीण परिवेश और लोक-जीवन का जितना सूक्ष्म अंकन इधर हिमांशु श्रीवास्तव में मिलता है उतना

ही मुस्लिम समाज का सूक्ष्म आकलन शानी के इस उपन्यास में मिलता है। आधुनिकता के अजस्त्र प्रवाह से निरन्तर धुलती जाती लोक-संस्कृति व तहज़ीब से आक्रान्त आगत पीढ़ियाँ जब पीछे मुड़कर इस उपन्यास का परीक्षण करेंगी तो उसे अपने अतीत की परम्पराओं का समुचित ज्ञान कदाचित यही कृति दे सकेगी।"[8] यह प्रयास सराहनीय इसलिए है कि इससे पीढ़ियों तक ग्रामीण सांस्कृतिक मूल्यों की जीवन्तता बनी रहेगी।

बदलते ग्रामीण मूल्यों के सन्दर्भ में डॉ॰ शिवप्रसादसिंह का 'अलग-अलग वैतरणी' (1967) उपन्यास बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ग्रामीण परिवेश के बदलते मूल्यों और उसके परिणाम स्वरूप गाँव टूटने की परिस्थिति का जितना सफल चित्रांकन इस उपन्यास में हुआ है, अन्यत्र शायद ही हुआ हो। 'करैता' गाँव को छोड़कर जाने की स्थिति में मिसिर के यह शब्द अत्यन्त प्रासंगिक हैं- 'आप जा रहे हैं, बिपिन बाबू जाइये। कोई इसके लिये आपको दोष नहीं देगा। सभी जाते हैं। हमारे गाँवों से आजकल एक तरफा रास्ता खुला है। निर्यात ! सिर्फ निर्यात ! जो भी अच्छा है, काम का है, वह यहाँ से चला जाता है। अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती है। अच्छे मोटे ताजे जानवर गाय, बैल, भेड़ें, बकरें जाते हैं। हट्टे-कट्टे मजबूत आदमी जिनके बदन में ताकत है, देह में बल है, खींच लिये जाते हैं, पलटन में, पुलिस में, मिलेटरी में, मिल में। फिर वैसे लोग जिनके पास अक्ल है, पढ़े लिखे हैं यहाँ कैसे रह जायेंगे। जाना ही होगा।"[9] इससे न केवल गाँव, बल्कि देश में से भी सरस्वती रूपी धन शनैः-शनैः विदेशगमन कर रहा है। इस बिखराव को रोकना होगा। इस सन्दर्भ में मूल्य-परिवर्तन की दृष्टि से 'राग दरबारी' (1968) उपन्यास महत्वपूर्ण है, जिसे आजादी से पूर्व देखे गये सपनों के मोहभंग का यथार्थ दस्तावेज कह सकते हैं। राजनीति की काली अजगर-सी छाया से गाँव भी अछूते नहीं रहे। इस सन्दर्भ में पारुकान्त देसाई लिखते हैं - "गाँव के जीवन की इस टूटती हुई रीढ़ और बदलते हुए जीवन मूल्यों को उसकी विसंगतियों और विद्रूपताओं को आज के कथाकार ने बहुत गहराई से महसूस किया है।"[10] तो इस श्रेणी में डॉ॰ राही मासूम रज़ा का 'आधा गाँव' (1966) उपन्यास है, जो अलगाववाद विभाजन की विभीषिकाओं से ग्रस्त है। जैसे कि शीर्षक से ही ध्यातव्य है कि यह गाँव गंगौली किसी भी दृष्टि से पूर्ण नहीं है। ''गंगौली नाम का यह गाँव शिया और सुन्नियों में, सैय्यदों और जुलाहों में, उत्तर पट्टी और दक्खिन पट्टी में और यदि आस-पास के पूरबों को भी लें तो हिन्दुओं और मुसलमानों में, छूत और अछुतों में और एक निश्चित सीमा तक जमीदारों और आसमियों में बंटा हुआ है। पूरी कहानी इन्हीं में तनी-कसी है।"[11] यहाँ गाँव की विघटनकारी प्रवृत्तियाँ उपन्यास की कथा के साथ-साथ और भी गहरी होती चली जाती है। लेखक गाँव के अधूरेपन को चित्रित करने में विशेष सफल रहा है। इसी श्रेणी में डॉ॰ रामदरश मिश्र का ही 'सूखता हुआ तालाब' (1972) ग्राम्य-जीवन के टूटते हुए मूल्यों एवं यथार्थ को, व्यंग्यार्थ को प्रकट करनेवाला महत्वपूर्ण लघु-उपन्यास है। इस उपन्यास का प्रमुख व ईमानदार चरित्र देवप्रकाश गाँव में चला आता है, लेकिन गाँव की राक्षसी शक्तियाँ उसका बहिष्कार करती हैं। देव-प्रकाश की आत्मा कराह उठती है - "क्या हैं मानवता? क्या है मूल्य? कुछ नहीं बचा है। बचा है केवल सुख-सुविधापरक समझौता ! तब तो कहीं कुछ भी विश्वसनीय नहीं, कहीं कुछ भी अतूट नहीं, कहीं कुछ भी मूल्य नहीं, आत्मीय नहीं।"[12] इस प्रकार 'सूखता हुआ तालाब' उपन्यास गाँव के मूल्यों के ह्रास का प्रतीक है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि साठोत्तरी उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश एवं उस पर ग्राम्य-जीवन के बदलते-परिवर्तित होते हुए जीवन-मूल्यों का चरित्रांकन बड़ी ही मार्मिकता के साथ हुआ है। वर्तमान आधुनिक समय में गाँव टूट रहे हैं, लोग शहरों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। गाँव में स्वच्छ व तन्दुरुस्त वातावरण, अच्छा दूध, घी, ताजी सब्जियाँ-फल इत्यादि सभी बातें केवल कल्पना मात्र रह गई है। तकनीकी व शिक्षा के क्षेत्र में गाँवों में प्रगति हुई है। ई-ग्राम की संकल्पना आज गाँवों को माहिती के स्तर पर जोड़ रही है, किन्तु भावना के स्तर पर एक गाँव दूसरे गाँव से, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से बिलकुल दूर है। यह भावनाशून्यता, संवेदनशीलता बदलते मूल्यों का ही परिणाम है। समाज का प्रबुद्ध वर्ग इन टूटते हुए ग्राम्य परिवेश की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करें, यह अत्यन्त आवश्यक है।

संदर्भ

1. हिन्दी उपन्यास की विकास परम्परा में साठोत्तरी उपन्यास, डॉ॰ पारुकान्त देसाई, पृ॰ 149
2. वही, पृ॰ 150
3. जल टूटता हुआ, डॉ॰ रामदरश मिश्र, पृ॰ 389
4. पानी के प्राचीर, डॉ॰ रामदरश मिश्र, पृ॰ 172

5. हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परम्परा में साठोत्तरी उपन्यास, डॉ॰ पारुकान्त देसाई,
1. पृ॰ 341
6. 'नदी फिर बह चली, हिमांशु श्रीवास्तव, पृ॰ 63
7. वही, पृ॰ 194
8. हिन्दी उपन्यास की विकास परम्परा में साठोत्तरी उपन्यास, डॉ॰ पारुकान्त देसाई पृ॰ 165
9. अलग-अलग वैतरणी, डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह, पृ॰ 185
10. हिन्दी उपन्यास की विकास परम्परा में साठोत्तरी उपन्यास, डॉ॰ पारुकान्त देसाई, पृ॰ 209
11. आलोचना, जुलाई-सितम्बर, 1967, पृ॰ 143
12. सूखता हुआ तालाब, डॉ॰ रामदरश मिश्र, पृ॰ 104